The Indian Journal Of Basic and Applied Research
Volume 1 |Issue 1| June 2015
Online & print@www.ijbar.co.in

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत नाटकों में लोक चित्रण

डा० सुनीता

एम0ए0, पी0एच0डी0 (संस्कृत), नेट

डा० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

ईमेल–कतण्नदपजं18 ⁄ हउंपसण्बवउ

बीसवीं शताब्दी का काल भारतीय संस्कृति के इतिहास का वह स्वर्णकाल रहा है जिसमें संस्कृत नाटककारों ने लोकपरक आदर्शों से मण्डित नाटकों का सृजन करते हुए अनेक नाटकों का सृजन किया। कथानक चाहे जो भी रहे हो लेकिन इन नाटकों में लोकपरक आदर्शों का परिपालन आद्योपान्त दृष्टिगोचर होता हुआ संस्कृत नाटककारों की भारतीय संस्कृति एवं समाज के प्रति अगाथ निष्ठा का परिचायक रहा है।

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने वर्तमान काल में हीनता को प्राप्त होते हुए पुरातन सांस्कृतिक लोकदर्शों को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इन नाटकों में लोकपरक मान्यता में आदर्शों से परिपूर्ण होकर भारतीय समाज के पुरातन एवं नूतन दोनों ही रूपों को प्रस्तुत करने वाली हैं।

लोकचित्रण की भावना से मण्डित होकर बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों को लोक व्यवस्था के साक्षात् दर्पण के रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय लोकपरक चित्रण की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था वर्णाश्रम व्यवस्था रही है। बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने भी अपने नाटकों में वर्णाश्रम व्यवस्था का स्थान–स्थान पर उल्लेख किया है।

ब्राह्मण धर्म के बीसवीं शताब्दी के नाटकों में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। बीसवीं शताब्दी के नाटक शिखाबन्धनम् में चाणक्य ब्राह्मणों के आदर्शों को बतलाता हुआ कहता है–

गौ दुग्धैहविषा सदा बुधवराः कुर्वान्ति देवार्चनां

ये चाश्नन्ति सदैव सदैव सत्ववलदं दुग्धं मधु ब्राह्मणाः।

सत्याचार विचार चारुचतुराः सत्वस्य संरक्षकाः

नेच्छन्तीह धनं च राज्यभतुलं वाग्च्छन्तिगां केवलम्।[1]

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में क्षत्रिय वर्ण के कर्त्तव्यों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। वीरधर्मदर्पणम् नाटक में नाटककार ने क्षत्रियों के इस धर्म का वर्णन करते हुए कहा है–

प्राणानामपि हानेन धर्मसंरक्षण व्रतम्।

पात्यं हि क्षत्रिय श्रैष्ठैर्येन लोकोसुखी भवेत्।।[2]

भारतीय संस्कृति में कृषि व्यापार और वाणिज्य से धनार्जन करना तथा उसे समाज कल्याण एवं राष्ट्र कल्याण में लगाना वैश्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य माना गया है। बीसवीं शताब्दी के नाटकों में भामागुप्त इसका विशिष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। वीरप्रतापम् नाटक में वह

---

[1] शिखाबन्धनम्, 3 ⁄ 6

[2] वीरधर्मदर्पणम्, अंक 1

अपना चालीस कोटि धन देश की रक्षा के लिए राणा प्रताप को सौंप देता है। जब राणा प्रताप मना करते हैं तो वह प्राणों के परित्याग के लिए तैयार हो जाता है।[3]

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत नाटकों में सेवा कार्य करने वाले शूद्रों के वर्णन देखने को मिल जाते हैं। 'प्रतिज्ञाशान्तनवम्' नाटक में शूद्र जाति धीवरो का प्रचुरता से वर्णन किया है।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विकास स्वरूप भारतीय समाज में फैली हुई जाति प्रथा का बीसवीं शताब्दी के नाटकों में खुलकर विरोध किया गया है। यद्यपि नाटककारों ने चारों वर्णों के धर्मों के प्रस्तुतीकरण किये हैं लेकिन युगीन मान्यताओं से प्रभाक्ति इन नाटककारों ने जाति प्रथा का खुलकर विरोध किया है, जो पुरातन वर्ण व्यवस्था की कमी मानकर उसे परिष्कार का प्रशंसनीय प्रयास कहा जा सकता है।

उदाहरण के लिए भगवान कृष्ण ने गोपकुल में जन्म लेकर भी संसार की दुर्गति को विनष्ट कर डाला–

न केवलं जातिकूता महात्मता यन्नीचजातिरति तस्य साधुम।

सनातनो गोपकुले समुद्गतो ददाह लोकस्य दुरन्तदुर्गतिम्।।[4]

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने लोकपरक वर्णन में आश्रम व्यवस्था को भारतीय समाज एवं संस्कृति का विशिष्ट आदर्श माना है।

बीसवीं शताब्दी के नाटकों में ब्रह्मचर्य आश्रम के उदाहरण स्थान–स्थान पर देखने को मिल जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के नाटकारों ने स्पष्ट किया है कि गुरूओं की कृपा से और सहपाठियों की सद्भावना से विद्यार्थी को जीवन में सफलता प्राप्त होती है–

एषा कृपारित करूणामनसां गुरूणां

सम्द्रावना च भवतां सुहृदां समेषाम्।

स्निग्धिधियाति ह्यितो जन एष इष्टां

श्लाध्यां प्रियां सफलतां मम मित्रवर्य्याः।[5]

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में गृहस्थ आश्रम का भी स्थान–स्थान पर प्रस्तुतीकरण किया है। इन नाटकों में गृहस्थ का सर्वोपरि प्रयोजन सन्तान उत्पत्ति माना है। पुत्र पुंग नामक नरक से रक्षा करने वाला होने के कारण पुत्र कहा जाता है, वहीं माता–पिता की मंगलकारी कामनाओं से पुत्र रात–दिन विकास और यश को प्राप्त करता है–

मातुः पितुश्च शुभमंगलकामनाभिः

पुत्रस्य जीवनमहों क्षितिमण्डलेऽत्र।

गच्छद् विकासमनिशं लभते पस्त्र

श्रयो भृशं निखिराष्ट्रगं यशश्च।।[6]

---

[3] वीरप्रतापम्, अंक 6 गद्य
[4] नलदमयन्तीयम्, अंक 7
[5] अभिनवहनुमन्नाटकम्, 2/2
[6] अभिनवहनुमन्नाटकम्, 2/1

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में वानप्रस्थ आश्रम का भी वर्णन किया है। नाटककार कालीपद द्वारा रचित धौम्य ऋषि जो पत्नी के साथ आश्रम बनाकर रहते हैं वानप्रस्थी कहा जा सकता है–

विद्यायामपि चारित्र्यै लोकोत्तर गुणोतकारः।

वज्रदपि कठोरत्याकुसुमादपि कोमलः।।[7]

सन्यास आश्रम एवं उसके विशिष्ट धर्म का यद्यपि साक्षात् प्रस्तुतीकरण नहीं मिलतालेकिन सन्यासियों के वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं।

भारतीय संस्कृति में मानव परिवार सामाजिक संस्थाओं में वह सर्वोच्च संस्था रही है, जिसमें सम्पूर्ण समाज का मूल निहित रहता है। परिवार की परिभाषा में संस्कृत मनीषियों ने कहा है कि– **मूलभूत आधार वाले सुव्यवस्थित सामाजिक समूह का नाम ही परिवार है।**[8]

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने भी अपने नाटकों में पारिवारिक आदर्शों एवं सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का सर्वत्र प्रयास किया है। उदाहरण के लिए परिवार में अपने बुजुर्गों का सम्मान भारतीय परिवार व्यवस्था का सर्वोपरि सिद्धान्त रहा है। वीरधर्मदर्पणम् नाटक में सुभद्रा, अर्जुन और अभिमन्यु भीष्म (घायलावस्था में) को जाकर प्रणाम करते हैं।

भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से ही नारी को समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए उसे पुरूष की अर्धांगिनी के रूप में माना गया है।

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में नारी की जागरूकता, स्वाभिमान भावना एवं साहसपूर्ण अस्तित्व की रक्षा को चित्रित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इन नाटककारों ने सिद्ध किया है कि भारतीय नारी अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए शस्त्र उठाने में भी पीछे नहीं रही। बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में नारी को स्वतंत्रता, माता रूप, पत्नी रूप आदि को वर्णित किया है।

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में राजनीति के स्थान–स्थान पर वर्णन प्रस्तुत किये हैं इन नाटकों के वर्ण्य विषय विशेष रूप से राजाओं से सम्बद्ध होने के कारण राजनीतिक वर्णन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दृष्टिगोचर होते हैं।

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में आर्थिक स्थिति के भी प्रस्तुतीकरण किये हैं। इन नाटकों में आर्थिक उत्कृष्टता को किसी भी राष्ट्र की आधारशिला माना गया है। इसका सर्वोपरि उदाहरण 'शिखावन्दनम्' में देखने को मिलता है, जहाँ कहा गया है कि राष्ट्र की ज्ञान वृद्धि के लिए व्यावसायिक शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए। राज्यों में कृषि वाणिज्य कर्म, उद्योग व्यवस्था, विविध योजनाओं का संचालन तथा धन का सदुपयोग राष्ट्र एवं जन कल्याण के लिए होना चाहिए।

व्यवसायात्मिका शिक्षा, राष्ट्रे ज्ञानाभिवृद्धये।

आनान्वार्या च निःशुल्का भविष्यतीति निश्चयः।।[9]

वैदिक काल से ही धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण भूत तत्व रहा है। धर्म की महत्ता भारतीय समाज में वैदिक संहिताओं से लेकर आधुनिक काल तक अनिवार्य रूप में दिखायी देती है। वैदिक संहिताओं के पश्चात् धर्म को प्रमुख केन्द्र बिन्दु मानकर उसकी महत्ता पंचम् वेद में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रस्तुत की है।

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में लोक चित्रण के अन्तर्गत भारतीय जनों की धर्मनिष्ठा को प्रस्तुत करते हुए धर्म के लक्षण, स्वरूप एवं महत्ता को प्रस्तुत करने के प्रशंसनीय प्रयास किये हैं।

---

[7] माणवकगौरवम्, अंक 2
[8] संस्कृत काव्यों में नीति तत्व, डॉ0 गंगाधर भट्ट, पृष्ठ 125
[9] शिखाबन्धनम्, 6/6

बीसवीं शताब्दी के नाटकों के गहन अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि इन नाटककारों ने मानव का विकास सर्वोच्च साधन धर्म मानते हुए स्पष्ट किया है कि धर्म की रक्षा मानव का सर्वस्वभूत हुआ करता है। प्राणों का बलिदान करके भी धर्म की रक्षा को सर्वोपरि धर्म मानते हुए बीसवीं शताब्दी के नाटकों में कहा गया है–

प्राणानामपि हानेन् धर्म संरक्षणव्रतम्।[10]

<u>सारांशतः</u>

बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने अपने नाटकों में लोक चित्रण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इन नाटककारों ने अपने नाटकों को लोक व्यवस्था के साक्षात् दर्पण के रूप में प्रस्तुत किया है इन नाटकों में वैदिक काल से चली आ रही सामाजिक सर्वोच्च संस्था वर्णाश्रम व्यवस्था का अतीव उत्कृष्ट प्रदर्शन देखने को मिलता है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत विकास स्वरूप भारतीय समाज में फैली हुयी जाति प्रथा का बीसवीं शताब्दी के नाटकों में खुलकर विरोध किया है। इसके अतिरिक्त इन नाटकों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, चारों आश्रमों के विशिष्ट आदर्शों को प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

भारतीय परिवार व्यवस्था वैदिक काल से ही सम्पूर्ण विश्व के लिए प्रेरणीय व्यवस्था रही है। भारतीय परिवार में मान्य आदर्शों, परम्पराओं एवं मान्यताओं का भव्य स्वरूपांकन बीसवीं शताब्दी के नाटकों की महती विशेषता कही जा सकती है।

लोक व्यवस्था के सम्यक् परिपालन के लिए किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के पुरूष एवं नारी दो अन्योन्याश्रित आधार हुआ करते हैं। नारी की स्थिति भारत राष्ट्र में पूर्वकाल में भले ही विरोधाभासों से ग्रसित रही हो लेकिन बीसवीं शताब्दी का काल नारी जागरण का स्वर्णिम काल रहा है। बीसवीं शताब्दी के संस्कृत नाटकों में नारी का स्वरूप उसके स्वाभिमान, सामाजिक समानता एवं स्वतंत्रता, सम्माननीय स्थिति, माता के रूप में पूज्य भाव, पत्नी के रूप में प्रणयनी एवं दाम्पत्य संगिनी के साथ–साथ राजनीति पोषिका के रूप में दिखाई देती है।

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत नाटककारों ने लोकचित्रण में भारतीय राजनीतिक उत्कृष्टता एवं आर्थिक महत्ता को स्पष्ट करने के प्रशंसनीय प्रयास किये हैं।

यह तथ्य सर्वथा सत्य एवं सर्वमान्य है कि सृष्टि के आदिकाल से ही धर्म भारतीय संस्कृति का प्राणभूत तत्व रहा है। बीसवीं शताब्दी के संस्कृत नाटककारों ने अपने नाटकों में धर्म के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण करने के साथ–साथ उसके विविध रूपों एवं समाज में उसकी महत्ता विषयक वर्णनों को स्थान–स्थान पर प्रस्तुत करने के प्रशसंनीय प्रयास किये हैं।